आश्रम व्यवस्था में सामाजिक दृष्टिकोण

डॉ. सुनीता तिवारी

ऐसो0 प्रोफे0, राजनीति विज्ञान विभाग, मु. ला. ज. ना. खेमका महाविद्यालय, सहारनपुर

सारांश

आश्रम व्यवस्था में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। उसके उद्देष्यों को ग्रहण करने से मनुष्य की निरन्तर व्यक्तिवादी होने की विडम्बना से परित्राण पाया जा सकता है। प्राचीन समय में मनुष्य के जीवन लक्ष्य को सामने रखकर आश्रम व्यवस्था में निहित सामाजिक दृष्टिकोण को आज भी अपनाया जा सकता है। विचारपूर्वक देखा जाय और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवष्त्तियों का गहन अध्ययन किया जाय तो मनुष्य की अवस्था चार भागों में विभाजित होती है।

(1) जिज्ञासा और विकास की अवस्था

(2) उद्योग और उपभोग की अवस्था

(3) ज्ञान और अनुभव में सामन्जस्य काल

(4) आत्म कल्याण की धारणा।

महत्वपूर्ण शब्द: *जीवनोद्देष्य, व्यक्तिवादी, सामंजस्य, संस्कार।*

शोध पत्र का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है:

डॉ. सुनीता तिवारी, ''आश्रम व्यवस्था में सामाजिक दृष्टिकोण'', शोध मंथन जून 2017, पेज सं0 54–56

http://anubooks.com/?page_id=2030

Article No.9(SM416)

प्रस्तावना

सामाजिक व्यवस्थाएँ इसलिये बनाई जाती हैं कि व्यक्ति अपनी प्रगति के साथ–साथ अपने समाज की प्रगति में भी सहायता करता चले। हमारी प्राचीन आश्रम प्रणाली में व्यक्ति और समाज के बीच ऐसा ही सामंजस्य स्थापित किया गया था। आज उस व्यवस्था के इस मूल उद्देश्य का पालन कुछ अंषों में होता है। वर्तमान समय को देखते हुये उस व्यवस्था को उसी प्रकार तो लागू नहीं किया जा सकता, किन्तु उसमें निहित उद्देश्यों को ग्रहण किया जा सकता है। ऐसा होने पर मनुष्य की निरन्तर व्यक्तिवादी होने की विडम्बना से परित्राण भी पाया जा सकता है।

नित्य प्रति के जीवन क्रम को भी पृथक्–पृथक् भागों में विभक्त करने से सुविधा रहती है। वैसे ही प्राचीन समय में मनुष्य अपने जीवन–लक्ष्य को सामने रखकर आयु के चार भाग कर लेते थे, उन्हें आश्रम कहा गया था। वर्तमान समय में इस प्रकार का समय विभाजन नहीं होने से मनुष्य अपने जीवनोद्देश्य से भटक जाता है। आज भी ब्रहम्चर्यआश्रम को विद्याध्ययन काल, गृहस्थ आश्रम को उपार्जन एवम् परिवार–निर्माण काल तथा वानप्रस्थ सन्यास को समाज–सेवा काल के रूप में मान लिया जाय तो व्यक्ति अपने जीवनोद्देश्य को पूरा करता हुआ अपनी तथा समाज की प्रगति कर सकता है।

जीवन के पूर्वार्ध तथा गृहस्थाश्रम में व्यक्ति की अपनी प्रगति को प्रमुख तथा समाज–सेवा को गौण स्थान दिया जाता था, किन्तु व्यक्ति के कार्य–कलाप समाज विरोधी नहीं हो सकते थे। जीवन के उत्तरार्ध में समाज–सेवा प्रमुख हो जाती थी। वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम में व्यक्ति केवल समाज सेवा को लक्ष्य बनाकर चलता था, उसका अपना हित कुछ भी नहीं रहता था। अपनी सामान्य शारीरिक आवश्यकताओं को पूरी करने तक ही उसका अपना हित सीमित था।

वर्तमान समय में व्यक्ति सारे जीवन अपने व्यक्तिगत सुख सुविधाओं, अपने परिवार के हितों तक ही सीमित रहते हैं। इसका दुष्परिणाम सामाजिक समस्याओं के रूप में उभर कर सामने आता है। जबकि मनुष्य को पग–पग पर समाज का अनुदान मिलता है, तभी वह अपनी व्यक्तिगत एवम् पारिवारिक प्रगति कर सकता है। उस अनुदान को चुकाना अनिवार्य होता है।

बालक उत्पन्न होने पर प्राचीन समय में आठ–दस वर्ष की आयु तक ही घर पर रहता था। उसके पश्चात् उसका उपनयन संस्कार कराके उसे गुरूकुल में विद्याध्ययन के लिये भेजा जाता था। बालक की जो वृत्तियॉ अभी तक खाने खेलने तक ही सीमित थीं उन्हें अपने तथा समाज के हित में लगाने की ओर मोड.ा जाता था। इसी कारण उपनयन संस्कार को दूसरा जन्म–सामाजिक व्यक्तित्व का जन्म कहा जाता था। गुरूकुलों में उस विद्याध्ययन के उद्देश्य से रहने वाले छात्र का जीवन, त्याग एवम् तितीक्षामय होता था। शिक्षा के साथ–साथ वह गुरू का स्नेह तथा अनुशासन दोनों पाता था। अधिकांश गुरूकुल समाज की निशुल्क सेवा करने वाले आचार्यों द्वारा संचालित होते थे। इस जीवन में छात्र जिसे ब्रह्मचारी कहा जाता था, बहुत कुछ शिक्षा से ग्रहण करता था। गुरूकुल के नियमानुसार वे सदैव समाज में भिक्षा मॉगने जाते थे ताकि उन्हें ज्ञान रहे कि उन्होंने समाज से प्रत्यक्ष अनुदान प्राप्त किया है।

सम्पन्न तथा गरीब का कोई भेद न होने से सभी पारिवारिक स्थितियों से छात्रों में परस्पर भ्रातृत्व स्नेह उत्पन्न हो जाता था। यह परम्परा अब विघटित हो गई है। बालक को अनिवार्य रूप से शिक्षित करना तथा उसका शारीरिक मानसिक विकास करना माता–पिता की इच्छा पर निर्भर हो गया है। शिक्षा इतनी महंगी हो गई कि हर व्यक्ति अपने बालक को पढा नहीं सकता। प्राचीन आश्रम व्यवस्था में शिक्षक निस्वार्थ भाव से स्वयं को समाज सेवा के लिये प्रस्तुत करते थे। आज शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मात्र आजीविका कमाने योग्य बनना है। यदि वानप्रस्थ परम्परा को पुनजीर्वित किया जाय, सेवा–युक्त, शिक्षित तथा अनुभवी व्यक्ति प्राचीन आचार्यों की तरह अपने आप को प्रस्तुत करें तो इस दिषा में क्रान्तिकारी सुधार हो सकते हैं। छात्र अपने इस समाज सेवी निस्पृह शिक्षकों से बहुत कुछ सीख सकता है। उनका दृष्टिकोण समाज परायण हो सकता है।

गुरूकुल छोड.ने के पश्चात् छात्र अपने परिवार में पहुँचता था जहॉ उसका प्रवेश गृहस्थाश्रम में होता था। प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति भले ही वह सम्पन्न होता था वह अपने को समाज के प्रतिनिधि मानकर अपना कर्तव्य समझता था तथा समाज सेवा करने वाले लोक मंगल में लगे सेवाभावियों का भार उठाना अपना सौभाग्य मानता था।

जीवन के उत्तरार्ध को वानप्रस्थ तथा सन्यास दो आश्रमों में विभक्त अवश्य किया गया था। किन्तु जन सामान्य की यह आधी आयु वानप्रस्थ समाज–सेवी के रूप में ही व्यतीत करता था। इनमें योग्य आचार्य, साहित्यकार, कलाकार तथा समाज को नयी दिशा देने वाले समाज सेवा करने वाले योग्य अनुभवी व्यक्ति होते थे।

वर्तमान समय में अपने जीवन के उत्तरार्ध में भी यह भावना अधिकांश लोगों में नहीं जगती है। प्राचीन आश्रम व्यवस्था में निहित सामाजिक दृष्टिकोण को आज भी अपनाया जा सकता है। विचारपूर्वक देखा जाय और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का गहन अध्ययन किया जाय तो मनुष्य की अवस्था चार भागों में विभाजित होती हैं:–

(1) जिज्ञासा और विकास की अवस्था
(2) उद्योग और उपभोग की अवस्था
(3) ज्ञान और अनुभव में सामन्जस्य काल
(4) आत्म कल्याण की धारणा।

इन अवस्थाओं में नियन्त्रण न रखा जाय तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रकषति अधोगामी बन सकती है, इस विचार से ही यहॉ उन्हें कर्तव्यों की सीमा में बॉधने का प्रयत्न्न किया गया है।

उद्धृत

(1) *प्राचीन राजनीतिक चिन्तन –J. P. Suda.*
(2) *Vedic Culture– पं. गंगा प्रसाद उपाध्याय*
(3) *The Story of civilization – Will Durant*
(4) *Our oriental Heritage*
(5) *Recovery of Faith – Dr Radhakrishnan.*